शब्द और अर्थ तथा उनका सम्बन्ध

धनञ्जय वासुदेव द्विवेदी

भूमिका

भारत में शब्द और अर्थ पर चिन्तन की परम्परा प्राचीनकाल से अबाध गति से चलती आ रही है। शब्द और अर्थ सामान्य व्यवहार के लिए सहायक तो हैं ही, शास्त्रीय परम्परा में भी उनका महत्त्व सर्वस्वीकृत है। शब्द तो अर्थ की अभिव्यक्ति का माध्यम है। शब्द अमूर्त अर्थ का मूर्त रूप है। शब्द और अर्थ अन्योन्याश्रित हैं। दोनों को मिलाकर ही 'सार्थक शब्द' बनता है। अर्थ के बिना शब्द निर्जीव है और शब्द के बिना अर्थ अग्राह्य या अप्रयोज्य।

शोधप्रविधि

प्रस्तुत शोधालेख में शोध की पुस्तकावलोकन विधि का अनुसरण किया गया है। प्राथमिक तथा द्वितीयक दोनों प्रकार के स्रोतों का उपयोग किया गया है। शोधालेख वर्णनात्मक प्रकृति का है।

तथ्य विश्लेषण

शब्द और उसका महत्त्व

शब्द अर्थात् वाणी काव्यसर्जन के साथ-साथ लोकव्यवहार के सञ्चालन के निमित्त अपरिहार्य तथा सर्वप्रधान साधन है। सृष्टि के आरम्भ से ही वाणी विचारों के विनिमय का प्रधान माध्यम रही है। शतपथ ब्राह्मण में वाणी की व्यापकता स्वीकार करते हुए उसे ब्रह्म कहा गया है- 'वाग्वै ब्रह्म'।[१] ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार वाणी समुद्र है। वह क्षीण नहीं होती-'वाग् वै समुद्रः। न वाक् क्षीयते।'[२] बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि सब वेदों का वाणी ही एकमात्र मार्ग है- सर्वेषां वेदानां वागेकायनम्।[३] वाणी ही मनुष्य का एक ऐसा आभूषण है जो अन्य भूषणों के सदृश कभी घिसता नहीं। महर्षि पतञ्जलि का कथन है कि एक भी शब्द यदि सम्यक् रीति से ज्ञात हो तथा सुप्रयुक्त हो तो वह इस लोक में व स्वर्ग में कामधुक् होता है – 'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुक् भवति।' व्याकरण से शुद्ध वाणी पाकर विद्वान् लोग पवित्र लगने लगते हैं-

संस्कारवत्येव गिरा मनीषी।[४]

कारव्यशास्त्रमर्मज्ञ आचार्य दण्डी के अनुसार वाणी के द्वारा ही लोकयात्रा का सञ्चालन होता है- वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते।[५] शब्द नामक ज्योति से यह समग्र संसार दैदीप्यमान है। इस ज्योति के बिना वह अन्धकाराच्छन्न हो जायेगा-

इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेत भुनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥[६]

इस श्लोक में आचार्य ने शब्द को ज्योति कहा है। 'ज्योतिर्द्योतनात्'-प्रकाशक तत्त्व को ज्योति कहा जाता है, अतः शब्द भी सकलव्यवहारप्रकाशकतया ज्योति कहा जा सकता है।

मैत्रायणी उपनिषद् में कहा गया है कि कोई भी व्यक्ति शब्दब्रह्म में निष्णात होकर परब्रह्म की प्राप्ति कर लेता है-

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् ।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः ब्रह्माधिगच्छति ॥[७]

वस्तुतः जो कुशल व्यक्ति व्यवहार के अवसर पर समुचित शब्दों का प्रयोग करता है वह अनन्त विजय को प्राप्त करता है और वाणी के परस्पर योग को न जानने वाला व्यक्ति अपशब्दों से दूषित हो जाता है। भर्तृहरि वाणी के महत्त्व को स्वीकार करते हुए कहते हैं-

केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालङ्कृता मूर्धजाः ।

वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ॥[८]

अर्थात् वाणी रूप भूषण सब भूषणों में उत्तम है, क्योंकि केयूरादि भुजबन्ध, चन्द्रोज्ज्वलहार, स्नान, कुङ्कुमादि लेपन, पुष्प और सुन्दर केशादि के भूषण क्षयी होने के कारण वाणीरूप अक्षयभूषण की बराबरी कदापि नहीं कर सकते।

सच तो यह है कि शब्दों के अभाव में लोक में किसी प्रकार का ज्ञान सम्भव नहीं है। उनसे सम्बद्ध होकर ही समस्त ज्ञान प्रतिभासित होता है। संसार में ऐसा कोई ज्ञान नहीं, जो शब्दों के बिना ही हो जाता हो। ज्ञान तो शब्दों से कुछ इस प्रकार बिंधा हुआ है, जैसे धागे से मणियाँ। ज्ञान की प्रतीति शब्दानुबिद्ध होकर ही होती है।

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥[९]

ज्ञान की शाश्वत वाग्ररूपता (शब्दमय, शब्दरूप होना) यदि उच्छिन्न हो जाए तो प्रकाश भी प्रकाशित नो हो। वाग्रूपता ही प्रकाश को प्रकाशित करने वाली प्रत्यवमर्शिनी शक्ति है-

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती ।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥[१०]

वाणी सभी विद्याओं, शिल्पों और कलाओं की कारण है। इन विद्या-शिल्पादियों के द्वारा निर्मित या उत्पादित सभी वस्तुएं अपने-अपने स्वरूप और सत्ता में आती हैं। इन्हीं के द्वारा प्रवर्तित व्यवहार और प्रक्रिया से ही ये नाना प्रकार की वस्तुएं और क्रियाकलाप सर्वत्र दिखाई देते हैं। इस सारे वस्तुभेद का कारण वाणी ही तो है-

सा सर्वविद्याशिल्पानां कलानां चोपबन्धनी ।
तद्वशादभिनिष्पन्नं सर्वं वस्तु विभज्यते ॥[११]

ब्रह्म जिस प्रकार स्वयं कूटस्थ अनादिनिधन होकर भी अपने को जगत् के रूप में प्रकाशित करता है, शब्द भी उसी प्रकार ब्रह्मतुल्य कूटस्थ होकर अनेक अर्थों के रूप में अपने आपको प्रकाशित करता है-

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥[१२]

नियतिकृत नियम से रहित, अनन्यपरतन्त्र सद्यः चमत्कारकारी रसों से परिपूर्ण, त्रिगुणों से मण्डित, रीतियों से रम्य तथा अलंकारों से अलंकृत कविकर्म काव्य शब्दों और अर्थों का मञ्जुल समन्वय ही तो है। काव्य, शास्त्र एवं लोक व्यवहार सभी के लिए शब्दों की अनिवार्यता है। काव्य एवं शास्त्र दोनों की सार्थकता अपने अभीष्ट के प्रकाशन में है। संसार के समग्र व्यवहार शब्दों पर ही आश्रित हैं। हम अपने भावों को शब्दों के द्वारा ही प्रकट करते हैं तथा दूसरों के कथन का तात्पर्य भी शब्दों के द्वारा ही ग्रहण करते हैं।

भारतीय चिन्तन परम्परा में 'शब्द' वस्तुतः मात्र व्याकरणशास्त्र का ही प्रधान विषय नहीं है, अपितु वह काव्यशास्त्र, दर्शनशास्त्र एवं अध्यात्म का भी एक महत्त्वपूर्ण विवेच्य विषय है। शब्द शक्ति शाली औषधि के तुल्य हैं जिनका प्रयोग मानवमात्र के द्वारा किया जाता है। वैयाकरणों ने शब्द को नित्य, अविनाशी तथा मोक्षप्राप्ति का साधन माना है।

जिस प्रकार जल के दिखाई देने से पूर्व भी भूमि में जल होता ही है और वह खनन कार्य के पश्चात् दिखाई देता है अथवा जिस प्रकार अन्धकार में पहले से ही विद्यमान घट दीप के द्वारा प्रकाशित किए जाने पर उपलब्ध होता है, ठीक उसी प्रकार अतिसूक्ष्म वाक् के रूप में पहले से ही विद्यमान अन्तःस्थित नाद, कंठ, तालु आदि उच्चारण-स्थानों पर आवश्यकता के अनुसार किए गए अभिघात से वर्णत्व को प्राप्त होता हुआ शब्द कहलाता है। आचार्य आपिशलि ने इस प्रक्रिया को सूत्ररूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है-

आकाशवायुप्रभवः शरीरात् समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः ।
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः ॥

अर्थात् आकाश तथा वायु के प्रभाव से नाद नामक वायु शरीर से मुख तक आती है। यही मुख के विभिन्न स्थानों में विभक्त होकर वर्ण के रूप में बदल जाती है। इसे ही शब्द कहते हैं।

वाक्यपदीयकार का कथन है कि वक्ता की इच्छा के अनुरूप प्रयत्न द्वारा अन्दर की सक्रिय वायु एकत्रित होकर ऊपर की ओर भागती है। यह कंठ, तालु प्रभथि स्थानों से टकराकर अभिघात नामक संयोग करती है। इस प्रक्रिया में यह वायु शब्दरूप में बदल जाती है –

लब्धक्रियः प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्तिना ।
स्थानेष्वभिहतो वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते ॥[१३]

वाणी को अमृत के सदृश मधुरा, सुचरितार्थपदा, मिताक्षरा, चिरव्यवस्थापिका, ईप्सितार्थपदा, लघुसन्देशपदा, सुनृता, मञ्जुला एवं गूढरूपा होना चाहिए।

अर्थ और उसका महत्त्व

अर्थ का सरल और स्पष्ट लक्षण करना चाहें तो कह सकते हैं कि शब्द के द्वारा जो प्रतीति होती है, उसे अर्थ कहते हैं–

यस्मिंस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते।
तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम्॥[१४]

इससे स्पष्ट है कि अर्थ का सामान्य लक्षण 'प्रतीति' है। प्रत्येक व्यक्ति शब्द को सुनकर कुछ अर्थ समझता है। उसकी यह व्यक्ति गत अनुभूति 'प्रतीति' ही उसका अर्थ होता है।

अर्थ भाव तथा कल्पना का वाहन और सत्य का स्वरूप है। अर्थ की रमणीय अभिव्यक्ति व्यञ्जना द्वारा, चमत्कारिक अभिव्यक्ति लक्षणा द्वारा और स्वाभाविक अभिव्यक्ति अभिधा द्वारा होती है। अर्थ का सम्यक् संयोजन बुद्धि तत्त्व पर, अर्थ की साकारता कल्पना तत्त्व पर और अर्थ का प्रभाव भाव तत्त्व पर निर्भर करता है।

महावैयाकरण महर्षि पाणिनि ने अर्थ के महत्त्व को स्वीकार किया है। अतः कहा है कि अर्थवान् या सार्थक शब्दों को ही प्रातिपदिक कहते हैं–'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्'।[१५] यास्क ने अपने ग्रन्थ निरुक्त में निर्वचन का आधार अर्थ को ही स्वीकार किया है।[१६] अर्थ के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए उनका मन्तव्य है कि जो अर्थज्ञान के बिना वेदाध्ययन करता है वह भारवाहक पशु के तुल्य है। अर्थज्ञ का सर्वविध कल्याण होता है। अर्थज्ञान की ज्योति से मनुष्य पापों को विनष्ट करके ब्रह्मत्व को प्राप्त करता है–

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥[१७]

वृक्ष अपने पत्र-पुष्प-फलों को धारण करने का भागी होता है, किन्तु उनके गन्ध-रस-रूप तथा स्पर्श के उपभोग सुखों से संयुक्त नहीं होता है। ऐसे ही वह पुरुष है, जिसने वेद पढ़कर उसका अर्थ नहीं जाना। जो पुरुष अर्थ को भी जानता है, केवल पाठमात्र का पढ़ने वाला नहीं है, वह सकल कल्याण को भोगता है। वह इस लोक में शिष्टों का पूज्य होकर स्वर्ग जाता है जहाँ दुःख का नाममात्र भी नहीं है।

पतञ्जलि भी अर्थ के महत्त्व को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि जिस शब्द के मूलपाठ की आवृत्ति अर्थ को बिना जाने की जाती है तो वह ज्ञान को प्रज्वलित नहीं करती है, जैसे अग्नि रहित शुष्क इन्धन-

यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥[१८]

ऋग्वेद में एक मन्त्र को अर्थज्ञ को अजेय योद्धा बताया गया है।[१९] यास्क ने अर्थ को वाणी का फल-फूल माना है-'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह।' स्पष्ट है कि भाषा की सार्थकता अर्थ से ही है। अर्थ ही भाषा का सर्वस्व है।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध :

अब प्रश्न उठता है कि शब्द और अर्थ का क्या सम्बन्ध है? क्या दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध है या एक के बिना भी दूसरे की स्थिति सम्भव है?

ये प्रश्न स्वाभाविक हैं। पुस्तक कहने से पुस्तक का ही अर्थ क्यों लिया जाता है? लेखिनी का क्यों नहीं? शब्द और अर्थ ये दोनों भाषा के प्रमुख स्तम्भ हैं। वस्तुतः प्रत्येक शब्द, जो अर्थवान् है, किसी अर्थविशेष की प्रतीति कराता है। किस शब्द से किस अर्थ की प्रतीति होगी यह संकेग्रह पर निर्भर करता है। संकेतग्रह के आठ साधन स्वीकार किए गए हैं-

शक्ति ग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥

अर्थात् व्याकरण, उपमान, शब्दकोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, प्रकरण, विवृति तथा प्रसिद्ध पद का सान्निध्य-ये संकेतग्रह के आठ साधन हैं।

व्याकरण शब्दों के अर्थ के ज्ञान में अत्यन्त सहायक है। उससे ही प्रकृति-प्रत्यय, शब्दरूप, समास, तद्धित, कृत, स्त्रीलिंग प्रत्ययों आदि का बोध होता है। उपमान का अर्थ है सादृश्य। सदृश वस्तु बताकर किसी वस्तु का अर्थ बताया जाता है। कोशग्रन्थों से शब्दों का अर्थ ज्ञात करने में बहुत सहायता मिलती है। यथार्थवक्ता को आप्त कहते हैं। वेद, शास्त्र, गुरु, माता, पिता आदि आप्त में गिने जाते हैं। बालक

माता-पिता को आप्त मानकर ही बाल्यावस्था में शब्दों का अर्थ ग्रहण करता है। व्यवहार का अभिप्राय है लोकव्यवहार। बालक से लेकर वृद्ध तक लोक व्यवहार से ही सबसे अधिक अर्थज्ञान करते हैं। संसार की सभी वस्तुओं का नाम हम लोक-व्यवहार से ही जानते हैं। प्रकरण या प्रसंग नानार्थक शब्दों के अर्थ निर्णय में सर्वोत्तम सहायक है। व्याख्या से भी अनेक शब्दों का अर्थ स्पष्ट होता है। प्रसिद्ध या ज्ञात पदों की समीपता से अज्ञात शब्द का अर्थ ज्ञात होता है।[२०]

भारतीय चिन्तकों ने वैदिककाल से ही शब्दार्थ के अन्दर अन्तर्निहित सौन्दर्य की परख प्रारम्भ कर दी थी और आगे चलकर तो सौन्दर्यविहीन काव्य को काव्यत्व की कोटि में परिगणित नहीं करने तक का सिद्धान्त प्रस्तुत किया जाने लगा। शब्दार्थ में सौन्दर्य के पारखी वैदिक ऋषि लक्षणा के माध्यम से कह उठता है कि जिस तरह सुवासा जाया अपने पति के लिए अपने को उद्घाटित कर देती है उसी प्रकार वाणी भी अन्तर्निहित सौन्दर्यभूत अर्थ को प्रकट कर देती है-

उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥[२१]

किन्तु जो व्यक्ति शब्दार्थ में अन्तर्निहित सौन्दर्यभाव को समझ नहीं पाता है उसके लिए वही शब्दराशि उस गौ की तरह होती है जो दूध ही नहीं दे पाती है-

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥[२२]

वस्तुतः शब्द के गौरवगान का एकमात्र कारण है उसकी सार्थकता। अर्थ के विद्यमान रहने पर ही शब्द अपने लक्ष्य की पूर्ति में समर्थ होते हैं। सार्थक शब्दों से ही क्रान्तद्रष्टा कवि रहस्यमयी भावना, काव्यगत आह्लाद, कान्तासम्मित उपदेश की कमनीय कल्पना तथा सर्वजन सुखाय एवं सर्वजन हिताय विषयों की अभिव्यक्ति करने में कृतकार्य होता है। काव्य शब्दों पर अवश्य अवलम्बित है, पर निरर्थक शब्दों पर नहीं। अर्थव्यञ्जना में समर्थ शब्दों में ही काव्यत्व प्रतिष्ठित होता है।

शब्द बोधक है और अर्थ बोध्य, अर्थात् शब्द से अर्थ का बोध होता है। इस प्रकार शब्द और अर्थ में बोध्य-बोधक भाव सम्बन्ध हुआ। किसी भी शब्द में उसका वाच्य अर्थ संकेतित होता है जो मूलतः शब्दशास्त्र तथा भाषाशास्त्र का विवेच्य होता है। यद्यपि काव्य में भी वाच्य अर्थ का प्राधान्य स्वीकार्य है और वास्तविकता भी यही है कि उस वाच्य अर्थ के माध्यम से लक्ष्य अर्थ तथा व्यंग्य अर्थ की प्राप्ति होती है, किन्तु काव्य का प्रतीयमान अर्थ तो कुछ भिन्न ही प्रकार का होता है और जो कवि अपने काव्यनिर्माण में जितना पटु होता है, वह अपने काव्यस्थित शब्द के माध्यम से अपने काव्य में उतनी ही मात्रा में अधिकाधिक लावण्य को प्रस्तुत कर पाता है-

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत् तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्नासु ॥[२३]

जैसे वक्ता की बुद्धि अर्थबोधन के लिए पहले उचित शब्दों की खोज करने में लग जाती है, श्रोता की बुद्धि भी उसी प्रकार अर्थ जानने सेत पहले सुने हुए शब्दों के जाँच परख में लग जाती है-

यथा प्रयोक्तुं प्राग्बुद्धिः शब्देष्वेष प्रवर्तते ।
व्यवसायो ग्रहीतृणामेवं तेष्वेव जायते ॥[२४]

कहने का तात्पर्य यह है कि शब्द के उच्चारण से पहले वक्ता शब्द से साथ ही अपना बुद्धि योग करता है। किसी इच्छित अर्थ के साथ शब्द का सम्बन्ध और फिर उसके उच्चारण की प्रेरणा बुद्धि करती है। अतः श्रोता भी अर्थज्ञान से पूर्व शब्दों के साथ ही अपना बुद्धियोग करता है। शब्द को यथावत् बुद्धिगम्य कर लेने के बाद ही श्रोता अपने अभीष्ट अर्थ का बोध करता है या अभीष्ट अर्थ का सम्बन्ध उससे करता है। शब्द ही श्रोता और वक्ता के बीच अर्थ-प्रतिपत्ति का तारतम्य जोड़ते हैं।

यह कहने में किञ्चित् मात्र भी विचिकित्सा नहीं है कि शब्द और अर्थ का मञ्जुल सामञ्जस्य ही भाषा है।

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की नित्यता

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है या अनित्य, इस प्रश्न पर भारतीय काव्यशास्त्राचार्यों ने कदाचित् अधिक विवाद नहीं किया है, पर उनका व्यवहार शब्दार्थ की नित्यता को ही स्वीकार करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि शब्दार्थ सम्बन्धी नित्यता को स्वीकार किए बिना उनका कार्य ही नहीं चल सकता है। वस्तुतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है-

नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः समाम्नाता महर्षिभिः ।
सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः ॥[२५]

अर्थात् शब्द, अर्थ और उनका सम्बन्ध तीनों नित्य है, ऐसा सूत्रकार पाणिनि, वार्तिककार कात्यायन और भाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है।

कात्यायन प्रस्तुत 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' वार्तिक की व्याख्या करते हुए महाभाष्यकार मुनिप्रवर पतञ्जलि ने कहा है कि शब्द भी सिद्ध है, अर्थ भी सिद्ध है और उनका पारस्परिक सम्बन्ध भी सिद्ध है। महाभाष्यकार ने सिद्ध का अर्थ नित्य किया है-'नित्यपर्यायवाची सिद्धशब्दः।' प्रत्येक शब्द में अर्थावबोधन की योग्यता सन्निहित रहती है और इसी कारण शब्द के साथ-साथ वाच्य अर्थ भी नित्य है। इसी नित्यता का उल्लेख करते हुए भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ को एक ही आत्मा के दो रूप बतलाते हुए इन्हें परस्पर अपृथग्भाव से स्थित अर्थात् अभिन्न माना है-'एकस्यैवात्मनो भेदो शब्दार्थावपृथक्स्थितौ'।[२६] कविकुलकलाधर महाकवि कालिदास ने अपने जगद्विख्यात रघुवंश महाकाव्य के आरम्भ में ही पार्वती परमेश्वर की चिरस्मरणीय शब्दों में वन्दना की है-

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥[२७]

अर्थात् मैं वाणी और अर्थ की सम्यक् प्रतीति के लिए संसार के माता-पिता पार्वती तथा शिव की वन्दना करता हूँ जो एक दूसरे से उतने ही संश्लिष्ट हैं, जितने वाणी और अर्थ।

अर्धनारीश्वर की मूर्ति में शिव तथा पार्वती परस्पर परिपूरक हैं-कोई किसी से हीन नहीं है तथा दोनों एक दूसरे के आधार पर ही अपनी सत्ता प्रतिष्ठित किए हुए हैं। दोनों समवेत रूप से जगत् के कारण हैं। अनन्त साहित्य क्षेत्र में शब्द तथा अर्थ इसी प्रकार परस्पर परिपूरक होते हैं और आह्लाद की सृष्टि करते हैं। शब्द के अभाव में न अर्थ का स्वारस्य रहता है और न अर्थ के अभाव में शब्द की प्रतिष्ठा। कोई किसी से रञ्चमात्र भी हीन नहीं होता। शब्द की मनोज्ञता उतनी ही मनोहारिणी होती है जितना आह्लादकारी होता है अर्थ का विलास। शब्द की सत्ता अर्थ की सत्ता का परित्याग करके एक क्षण के लिए भी टिक नहीं सकती। कवि के हृदय में जिस समय किसी अर्थ का स्फुरण होता है, उसी क्षण वह अपने लिए शब्द का अवलम्ब अविलम्ब खोज लेता है। विश्ववन्द्य गोस्वामी तुलसीदास के अनुसार शब्द और अर्थ को पृथक् करना उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार जल और लहर का पृथक्करण-

गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न ।
बंदउं सीता राम पद जिन्हहिं परमप्रिय खिन्न ॥[२८]

वायुपुराण के अनुसार भगवान् शंकर की प्राणवल्लभा जगज्जननी भगवती पार्वती निश्शेष शब्दों की अक्षय निधि हैं और अखिल अर्थों के संरक्षक हैं मुग्धेन्दुशेखर कल्याणमूर्ति भगवान् शंकर। इनकी कृपा के बिना शब्दार्थ युगल काव्यस्वरूप की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती-

शब्दजातमशेषं तु धत्ते शर्वस्य वल्लभा ।
अर्थरूपं यदखिलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः ॥[२९]

अर्थज्ञान के बिना शब्दोच्चारणमात्र से कोई लाभ नहीं है। निरुक्तकार यास्क ने कहा है कि जिस प्रकार बिना अग्नि के शुष्क इंधन प्रज्वलित नहीं हो सकता उसी प्रकार बिना अर्थावबोध के जो शब्द दोहराया जाता है वह कभी भी अभीप्सित अर्थ को प्रकाशित नहीं कर सकता।

काव्य और साहित्य की मीमांसा तथा शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध

शब्द और अर्थ के इसी अविनाभाव सम्बन्ध को ध्यान में रखकर ही आचार्यों ने काव्यस्वरूप निरूपण में शब्द और अर्थ दोनों की प्रधानता स्वीकार की है। आचार्य भरत ने नाटक (काव्य) को मृदु एवं ललित पदों और अर्थों से युक्त बतलाया है।[३०] इसी प्रकार भामह ने शब्द और अर्थ के सहित भाव को काव्य की संज्ञा दी है[३१] और रुद्रट ने शब्दार्थ को। आचार्य दण्डी ने 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली काव्यम्' कहकर पद और अर्थ के सहसम्बन्ध को स्वीकार किया है।[३२] सरस मनोहरतया वर्णन करने के लिए अभिप्रेत अर्थ से युक्त शब्द को काव्य का शरीर कहा जाता है। वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट ने काव्यलक्षण में काव्य का स्वरूप शब्दार्थ पर आधारित किया है[३३] और राजशेखर ने काव्य-पुरुष रूपक में शब्दार्थ को ही काव्य का स्वरूप बतलाया है।

साहित्य शब्द 'सहित' शब्द से भाववाचक 'ष्यञ्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है। सहित का अर्थ है सहभाव, समन्विति। समस्त साहित्य का निर्माण शब्द और अर्थ के तत्त्वों की सहबद्धता से, समन्वय से हुआ है। सहितयोः शब्दार्थयोः भावः साहित्यम् अर्थात् एक साथ सम्मिलित शब्द और अर्थ का भाव साहित्य के नाम से अभिहित किया जाता है। आचार्य राजशेखर ने साहित्य की परिभाषा उन्यस्त करते हुए लिखा है-

''शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या''।[३४]

साहित्य की परिभाषा में प्रयुक्त यथावत्सहभावेन पद द्वारा स्पष्ट है कि काव्य किंवा साहित्य में शब्द और अर्थ दोनों का सहभाव समान रूप में होना अनिवार्य है। काव्येतर शास्त्रों में शब्द का आश्रय केवल अर्थ की प्रतीति के लिए किया जाता है। इसके विपरीत काव्य में शब्द के अनुरूप अर्थ और अर्थ के अनुरूप शब्द का होना अनिवार्य है। काव्य में शब्द और अर्थ के इसी वैशिष्ट्य के कारण राजशेखर ने आन्विक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति नामक चार विद्याओं के साथ साहित्यविद्या को पाँचवी विद्या के रूप में प्रतिष्ठित करके उसे पूर्व निर्धारित चारों विद्याओं का सार कहकर उसके महत्त्व को स्थिर किया। राजशेखर के पश्चात् भोजराज ने अपने शृङ्गारप्रकाश नामक ग्रन्थ में साहित्य की व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की है-साहित्य क्या है ? शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ही साहित्य है। यह सम्बन्ध बारह प्रकार का होता है-अभिधा, विविक्षा, तात्पर्य, प्रविभाग, व्यपेक्षा, सामर्थ्य, अन्वय, एकार्थीभाव, दोषहान, गुणोपादान, अलङ्कारयोग और रस का अवियोग। इनमें प्रथम आठ का व्याकरणमूलक सम्बन्ध है और अन्तिम चार का काव्यमूलका आचार्य कुन्तक के अनुसोर काव्यमर्मज्ञों के आह्लादकारक, सुन्दर कवि व्यापार से युक्त रचना में अवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं-

शब्दार्थौ सहितौ वक्रव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥[३५]

साहित्य शब्द की यथार्थ व्याख्या आचार्य कुन्तक ने अपने वक्रोक्तिजीवित नामक प्रख्यात ग्रन्थ के प्रथम उन्मेष में विशद रूप से प्रस्तुत किया है। कुन्तक ने साहित्य शब्द के अभिप्राय को अभिव्यक्त करते हुए कहा है कि काव्य की सौन्दर्यदायकता के प्रति शब्द और अर्थ दोनों की न्यूनता और अतिरिक्तता से रहित (परस्परस्पर्धिभाव सहभाव से) कुछ अनिर्वचनीय मनोहारिणी स्थिति को ही साहित्य कहते हैं-

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ ।
अन्यूनानतिरिक्त त्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥[३६]

इस कारिका की व्याख्या करते हुए आचार्य कुन्तक ने पुनः कहा है कि सहित (शब्द और अर्थ) का भाव साहित्य है। इन सहित शब्द और अर्थ की सहृदय की आह्लादकारिता की हेतुभूत जो कोई लोकोत्तर अवस्थिति अर्थात् विचित्रा रचनाशैली है वही साहित्य है।वस्तुतः सहृदयाह्लादकारिता के लिए अन्यूनानतिरक्त त्वेन परस्पर समानता सेय सुन्दर रूप जो शब्द और अर्थ की स्थिति है वह साहित्य कहलाती है।

इस सम्बन्ध में आचार्य बलदेव उपाध्याय के मन्तव्य को उधृत करना समीचीन होगा-''एक साथ सम्मिलित शब्द और अर्थ का भाव 'साहित्य' कहलाता है। कवि की रचना शब्द तथा अर्थ के परस्पर समन्वय या सामञ्जस्य का परिणत फल होती है। अभीष्ट अर्थ को प्रकट करने की शक्ति किसी विशिष्ट शब्द में ही होती है। शब्दार्थ के साहित्य का तात्पर्य यह है कि शब्द और अर्थ परस्पर स्पर्धा कर रमणीय होते हैं अर्थात् न शब्द अर्थ से घटकर है और न अर्थ शब्द से न्यून। न कोई न्यून है और न कोई अतिरिक्त, दोनों सन्तुलित हैं। जिस प्रकार दो मित्र आपस में स्पर्धा करके उन्नति के शिखर पर पहुँच जाते हैं, और आपस के सहयोग से एक आदर्श व्यक्तित्व की रचना करते हैं, उसी प्रकार शब्द और अर्थ भी प्रतिस्पर्धा कर सौन्दर्यशाली बनते हैं और आपस में मिलकर एक आदर्श वस्तु की रचना करते हैं जो साहित्य कहलाता है।

शब्द और अर्थ की ऐसी अन्यूनानतिक्त त्वेन स्थिति ही वस्तुतः सहृदय आह्लादकारी होती है। साहित्य में शब्द और अर्थ का स्थान विलक्षण होता है। यहाँ पर पर्यायवाची अन्य शब्दों के रहने पर भी विवक्षित अर्थ का बोधक केवल एक शब्द ही वस्तुतः शब्द कहलाता है अर्थात् अनेक पर्यायवाची शब्दों के होते हुए भी उन सबकी अपेक्षा विलक्षण रूप से जो अर्थ को प्रकाशित कर सके केवल वही शब्द काव्य मार्ग में 'शब्द' कहा जाता है।इसी प्रकार सहृदयों को आह्लादित करने वाला अपने स्पन्द स्वभाव से सुन्दर पदार्थ ही वास्तव में 'अर्थ' शब्द से व्यवहरणीय होता है-

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि ।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः ॥[३७]

अतएव जिस रचना में इन शब्दों तथा अर्थों का यथायोग्य अपनी अन्यूनानतिरिक्त रूप सम्पत्सामग्री का समुदाय सहृदयाह्लादकारी परस्पर स्पर्धा सेक स्फुरित होता है वह कोई विशिष्ट ही वाक्य रचना 'साहित्य' नाम की अधिकारिणी है।

महाकवि भारवि के अनुसार काव्य वह है जो जिसमें प्रयुक्त पदसमूह से प्रसंगानुकूल वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ की स्फुट प्रतीति हो, अर्थगाम्भीर्य का कहीं भी परिहार न हो, पदों तथा वाक्यों में पूर्वापर सम्बन्ध सर्वथा युक्ति संगत हो अर्थात् उनमें न कहीं पुनरुक्ति दोष हो न किसी अप्रासंगिक बात का विन्यास हो और न कहीं पर उस पदकदम्ब की प्रभविष्णुता शिथिल हों-इस काव्यरहस्य का उद्घाटन कवि ने अर्थान्तर संक्रमितवाच्यध्वनि के सहारे किया है। कवि ने युधिष्ठिर के मुख से भीम को ओजस्विनी एवं सर्वशास्त्रसम्मत वाणी की प्रशंसा में उक्त तथ्य को प्रकाशित करता है-

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम् ।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित् ॥[३८]

तात्पर्य यह कि काव्य वह पदकदम्ब है जो सर्वथा निर्दुष्ट, सुस्पष्ट, यथार्थ एवं गम्भीर अर्थ से समन्वित हो। भारवि का पुनः कथन है कि रचना में शब्दविन्यास की चारुता, औदार्य अर्थ के उत्कर्ष

की शोभा होनी चाहिए और वक्त व्य में किसी प्रकार का द्वैविध्य नहीं होना चाहिए।[३९] शब्दों के द्वारा अर्थानुसन्धान की सौष्ठवमयी प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए कवि ने कहा है-

संस्कारवत्त्वाद्रमयत्सु चेतः प्रयोगशिक्षागुणभूषणेषु ।
अयं यथार्थेषु शरेषु पार्थः शब्देषु भावार्थमिवाशशंसे ॥[४०]

अर्थात् काव्य में प्रयुक्त शब्द सुसंस्कृत हों। वे काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास से निर्दुष्ट हों, रसोत्कर्ष के लिए उनमें माधुर्य-ओज-प्रसादादि गुणों का तथा रसोपकारक अलंकारों का पूर्ण कौशल के साथ सन्निवेश हो। ये सभी निर्दुष्ट शब्द, गुण एवं अलंकार अभीप्सित अर्थ को अभिव्यक्त करने में कदापि स्खलित न हों क्योंकि अन्ततोगत्वा उन सभी का चरम लक्ष्य अर्थगौरव का प्रकासशन ही तो है।

महाकवि भारवि के अनुसार रचना ऐसी होनी चाहिए जिसमें समान शब्दार्थ सन्निविष्ट हों और जो सर्वसाधारण का मनोरञ्जन कर सकें-

स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेयसम्पदं विशुद्धिमुक्तेरपरे विपश्चितः ।
इति स्थितायां प्रतिपूरुषं रुचौ सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः ॥[४१]

अर्थात् कुछ लोग काव्य में अर्थ सम्पदा की सराहना करते हैं, तो कुछ लोगों की दृष्टि उसके शाब्दिक सौन्दर्य पर केन्द्रित रहती है। इस प्रकार प्रतिव्यक्ति के रुचि वैचित्र्य के कारण ऐसी कविता करना अत्यधिक कठिन है, जो सबका समान रूप से मनोरञ्जन कर सके और जो शब्द-अर्थ दोनों के चमत्कार से चमत्कृत हो। कविता के लिए भारवि की धारणा है कि उसको लोकरुचि के अनुरूप ढालने के लिए उसमें समीचीन शब्दार्थ का सन्निवेश होना अत्यावश्यक है।

महाकवि माघ ने अपने वाग्वैचित्र्य की साधना के लिए शब्द और अर्थ दोनों को समान रूप से महत्त्व दिया है। अर्थहीन शब्द की कल्पना व्यर्थ है, सफल कवि के लिए वाचक, लाक्षणिक एवं व्यञ्जक शब्द तथा वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ सभी की आवश्यकता पड़ती है। काव्य भावों की लोकोत्तर अभिव्यक्ति है। और काव्य में लोकोत्तरता का आधान तभी सम्भव है जब उपर्युक्त त्रिविध शब्द और अर्थ सम्पृक्त होकर हमारे सामने उपस्थित हो। इसी सिद्धान्त को उपन्यस्त करते हुए कविकथन है-

नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषः ।
शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते ॥[४२]

अर्थात् बुद्धिमान् केवल भाग्य का ही अवलम्बन नहीं करता अथवा केवल पुरुषार्थ पर ही निर्भर नहीं रहता, किन्तु जिस प्रकार श्रेष्ठ कवि शब्द तथा अर्थ दोनों की अपेक्षा करता है, उसी प्रकार विद्वान् भी भाग्य तथा पुरुषार्थ दोनों का अवलम्बन करते हैं।

शब्दार्थों के रहस्यों पर जिस कवि का जितना ही अधिकार होगा वह उतना ही उच्च कोटि का कवि होगा। इस दृष्टि से देखते हैं तो यही ज्ञात होता है कि शब्दार्थों के रहस्यों पर महाकवि माघ का असाधारण अधिकार था।

महाकवि भवभूति ने अपने विश्वविश्रुत उत्तररामचरित नाटक में वाणी और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में एक अभिनव उद्भावना की है। उनका कहना है कि लौकिक सज्जनों की वाणी अर्थ का अनुसरण करती है अर्थात् उनकी वाणी वस्त्वपेक्षिणी होती है, परन्तु तपःपूत प्रधान ऋषियों की वाणी का अर्थ अनुसरण करती है अर्थात् वाण्यपेक्ष वस्तु होती है-

लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते ।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति ॥[४३]

इस विवेचन के आधार पर कहा कहा जा सकता है कि भारतीय काव्यशास्त्री संपृक्त शब्दार्थ को ही काव्य मानते हैं। निःसन्देह काव्य अथवा साहित्य की साधना शब्दार्थ-साधना ही है। ऋग्वेद[४४] में भाव प्रकट करने के लिए जिस वाक् के जनन की बात कही गई है, उसका आधार शब्द है।

त्रिविध शब्द, त्रिविध अर्थ और त्रिविध शक्ति

भारतीय काव्याचार्यों के अनुसार शब्द तीन प्रकार के होते हैं-वाचक, लाक्षणिक एवं व्यञ्जक। इन शब्दों के क्रमशः तीन अर्थ होते हैं- वाच्य, लक्ष्य एवं व्यङ्ग्य । प्रत्येक शब्द की पृथक्-पृथक् शक्ति होती है जिससे अर्थ प्रस्फुटित होता है। इनका क्रम इस प्रकार है-

शब्द	शक्ति	अर्थ
वाचक	अभिधा	वाच्य
लाक्षणिक	लक्षणा	लक्ष्य
व्यञ्जक	व्यञ्जना	व्यङ्ग्य

वाचक शब्द, अभिधा शक्ति एवं वाच्यार्थ

जब शब्द अभिधावृत्ति के सहारे साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध कराता है, तब वह उस अर्थ में वाचक कहलाता है और साक्षात् संकेतित अर्थ वाच्य होता है-

साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः ।[४५]
स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ॥[४६]

कहने का तात्पर्य है कि शब्दोच्चारण होते ही बिना विलम्ब अथवा कष्टकल्पना के जिस अर्थ की प्रतीति होती है उसी अर्थ को वाच्य किंवा मुख्य अर्थ कहते हैं और जिस व्यापार के द्वारा इसका ज्ञान होता है, उसे अभिधा कहते हैं।

लाक्षणिक शब्द, लक्षणा शक्ति एवं लक्ष्यार्थ

जब लौकिक जीवन में शब्द के वाच्यार्थ को ग्रहण करने में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित

हो जाती है और इसीलिए उस मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) से सम्बद्ध कोई दूसरा अर्थ ग्रहण किया जाता है, तब उस अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते हैं और उस शब्द को, जिससे लक्ष्यार्थ गृहीत होता है, लाक्षणिक शब्द कहते हैं। मुख्यार्थ को बाधित करके अमुख्यार्थ को महत्त्व देने की क्रिया या तो लोक प्रचलित व्यवहार पर आधृत होती है अथवा प्रभावोत्पादन के प्रयोजन से प्रेरित होती है। शब्द की वह शक्ति, जिसमें रुढ़ि अथवा प्रयोजनवश शब्द का मुख्यार्थ बाधित होता है किन्तु उसी से सम्बद्ध अन्य अर्थ प्रकाशित होता है, लक्षणा कहलाती है-

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥[४७]

इस लक्षणाशक्ति से वहीं काम लिया जाता है, जहाँ शब्द अपने साक्षात् संकेत किये अर्थ का जो उसका वाच्य है, ज्ञान नहीं करा सकता। सामान्य अर्थ का ज्ञान होने पर भी वक्ता का तात्पर्य समझ में नहीं आता। ऐसी दशा में रुढ़ि (शब्द की नियत अर्थ में प्रसिद्धि) और प्रयोजन में से किसी एक का आश्रय कर शब्द में मानी हुई वृत्ति लक्षणा मुख्य अर्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ की प्रतीति कराती है। उदाहरणार्थ 'कर्मणि कुशल'- अमुक व्यक्ति कार्य में कुशल है- इस प्रयोग में 'कुशल' शब्द निस्सन्देह लाक्षणिक है क्योंकि उसका मुख्यार्थ 'कुश लाने वाला' (कुशान् दर्भान् लाति इति कुशलः) स्पष्टतः अविवक्षित है। इस मुख्यार्थ का बाध हो जाता है। इस असंगति के निराकरणार्थ यह शब्द 'दक्ष' या चतुर रूप लक्ष्यार्थ को बोधित करता है। क्यों कुश के पत्ते बड़े तीक्ष्ण होते हैं। थोड़ी सी भी असावधानी से कुश ग्राहक का हाथ आदि कट जाता है। अतः 'कुशोत्पाटन' किंवा 'कुशानयन' के लिए विवेकशीलता अपेक्षित है। प्रश्न यह है कि शब्द का अर्थ 'दक्ष' या 'चतुर' ही क्यों होता है? इसका कारण यह है कि लोकव्यवहार में 'कुशल' शब्द का 'दक्ष' या 'चतुर' अर्थ रुढ़ हो गया है। इस प्रकार 'कर्मणि कुशलः' में शब्द लाक्षणिक होने के कारण 'दक्ष' को ही द्योतित करता है।

प्रयोजन हेतुक लक्षणा का उदाहरण 'गंगायां घोषः' है। इसका अर्थ है गंगा पर बस्ती। इस प्रयोग में गंगा शब्द लाक्षणिक है क्योंकि उसका मुख्यार्थ 'जलधारा' या 'जलप्रवाह' यहाँ अनुपपन्न है क्योंकि 'जलप्रवाह' किसी बस्ती का आधार नहीं हो सकता है। अतः यहाँ मुख्यार्थ बाधित हो जाता है तथा प्रयोजन के कारण गंगा से सम्बद्ध तट में लक्षणा स्वीकार की जाती है। गंगा का तट गंगा की धारा के निकट है, अतः गंगा के साथ तट के साथ सामीप्य सम्बन्ध है। 'गंगा' शब्द से गंगा तट का लक्षणा द्वारा प्रत्यायन कराने का प्रयोजन यह है कि इससे शीतलता, पावनता आदि की प्रतीति होती है, क्योंकि गंगा में शीतलता, पावनता विद्यमान है। यदि 'गंगायां घोषः' के स्थान पर 'गंगायाः तटे घोषः' का प्रयोग किया जाए तो शीतलता-पावनता आदि की वैसी प्रतीति सम्भव नहीं हो सकती क्योंकि गंगा से दूर भी तो गंगातीर पर घोष हो सकता है, जहाँ पर गंगा की शीतलता-पावनता आदि का विशेष सम्बन्ध न हो। अतः 'गंगायां घोषः'-इस प्रयोग में गंगा शब्द की गंगा तट में लक्षणा होती है।

विभिन्न आचार्यों ने लक्षणा के विभिन्न भेदोपभेदों का वर्णन किया है। विस्तारभय से उनका यहाँ विवेचन यहाँ नहीं किया जा रहा है।

व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जना शक्ति एवं व्यंग्यार्थ

वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के बोध हो चुकने के पश्चात् जिस किसी अन्य विलक्षण अर्थ का बोध होता है, उसे व्यंग्यार्थ कहते हैं। जिस शब्द से ऐसे अर्थ का बोध होता है, उसे व्यञ्जक कहते हैं तथा जिस शब्दशक्ति से वह अर्थ उद्भासित होता है, उसे व्यञ्जना कहते हैं। व्यंग्यार्थ को ध्वन्यर्थ, प्रतीयमान अर्थ आदि भी कहते हैं। व्यञ्जना शक्ति का आरम्भ वहाँ से होता है जहाँ अभिधा और लक्षणा शब्दशक्ति याँ निष्क्रिय हो जाती हैं। साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ का कथन है कि अभिधा आदि वृत्तियों के विरत हो जाने पर जिस वृत्ति से अन्य अर्थ का बोधन होता है, वह शब्द में अर्थ में रहने वाली वृत्ति व्यञ्जना कहलाती है-

विरतास्वभिधाद्यासय ययाऽर्थो बोध्यतेऽपरः ।
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ॥[४८]

व्यञ्जनावृत्ति के भी दो भेद हैं-शाब्दी व्यञ्जना और दूसरा आर्थी व्यञ्जना ।

क) शाब्दी व्यञ्जना

व्यङ्ग्य अर्थ की सिद्धि के लिए जिस स्थान पर शब्द परिवर्तन सहत्व स्वीकार न करें, वहाँ शाब्दी व्यञ्जना होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि व्यञ्जक शब्दों के पर्यायादि विषयक शब्दों से स्थानान्तरित करने पर जहाँ व्यङ्ग्य नष्ट हो जाए वहाँ शाब्दी व्यञ्जना कही जाती है। शाब्दी व्यञ्जना के भी 'अभिधामूला' तथा 'लक्षणामूला' व्यञ्जना ये दो भेद होते हैं-

अभिधालक्षणामूला शब्दस्य व्यञ्जना द्विधा ॥[४९]

i) अभिधामूला व्यञ्जना

अभिधामूला व्यञ्जना को स्पष्ट करते हुए काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट का कथन है संयोग आदि के द्वारा अनेकार्थक शब्दों के वाचकत्व का किसी 'एक अर्थ' में नियन्त्रण कर दिए जाने पर उससे भिन्न 'अवाच्य अर्थ' (अभिधावृत्ति से ज्ञात न होने वाले अर्थ) की प्रतीति कराने वाला जो शब्द व्यापार होता है, उसे अभिधामूला व्यञ्जना कहते हैं-

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम् ॥[५०]

अभिप्राय यह है कि जब 'अनेकार्थक शब्द' किसी एक अर्थ में 'संयोगादि' कारणों से नियन्त्रित हो जाते हैं, तब भी उनसे किसी 'अन्य अर्थ' की जो प्रतीति होती रहती है, वह प्रतीति जिस व्यापार से होती है, उस शब्द व्यापार को ही अभिधामूला व्यञ्जना कहते हैं। अनेकार्थी शब्दों को एक अर्थ में नियंत्रित करने के लिए भर्तृहरिप्रणीत 'वाक्यपदीयम्' में चौदह कारण बताए गए हैं-

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥

सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्ति : स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥

अर्थात् संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, अन्य शब्द की सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, पुँल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्गादि विशिष्ट व्यक्ति और स्वर आदि चौदह कारण हैं।

संयोग एवं विप्रयोग द्वारा अर्थनियंत्रण

जिस प्रकार 'संशखचक्रो हरिः' में शंख और चक्र के संयोग से 'हरिः' शब्द का अर्थ भगवान् 'विष्णु' के अर्थ में नियंत्रित होता है। वैसे ही 'अशंखचक्रो हरिः' में शंख और चक्र के विप्रयोग से भी 'हरिः' शब्द का अर्थ भगवान् 'विष्णु' के ही अर्थ में नियंत्रित होता है। जबकि 'हरि' शब्द यम, अनिल, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, विष्णु, सिंह, किरण, घोड़ा, तोता, सर्प, वानर और मेढक आदि का वाचक होता है।

साहचर्य एवं विरोध द्वारा अर्थनियमन

कोश के अनुसार 'राम' शब्द के अनेक अर्थ होते हुए भी जब 'लक्ष्मण' के साथ 'रामलक्ष्मणौ' इस रूप में लक्ष्मण के साहचर्य के कारण दशरथ पुत्र 'राम' का बोध होता है। इसी प्रकार 'रामार्जुनौ' कहने से और 'राम-अर्जुन' में कार्तवीर्य अर्जुन के विरोधी होने के कारण 'राम' का यहाँ अर्थ 'परशुराम' होगा। 'राम' शब्द के कई अर्थ हैं - बलराम, परशुराम, रघुनंदन, मनोज्ञ आदि।

अर्थ एवं प्रकरण से अर्थनियंत्रण

'स्थाणुर्ना ध्रुवः शंकुः स्थाणू रुद्र उमापतिः'-इस प्रकार 'स्थाणु शब्द के वृक्ष का ठूँठ, स्थिर खड़ा हुआ खूँटा, शिव आदि अनेक अर्थ हैं। 'स्थाणुं भज भवच्छिदे'- यहाँ स्थाणु का प्रयोग भवसागर से पार करने के निमित्त प्रार्थना में किया गया है, अतः 'स्थाणु' शब्द का अर्थ 'शिव' में नियन्त्रित होगा।

वैसे ही 'देव' शब्द के कई अर्थ हैं। परन्तु 'सर्वं जानाति देवः'- यहाँ किसी सम्मानित व्यक्ति के देव शब्द का प्रयोग किया गया है। यहाँ 'देव' शब्द प्रकरण के कारण में 'आप' अर्थ देता है।

लिङ्ग द्वारा अर्थनियमनः-

'कुपितो मकरध्वजः'-यहाँ पर 'मकरध्वज' शब्द के समुद्र, ओषधि-विशेष, कामदेव आदि अनेक अर्थ होते हैं, किन्तु 'मकरध्वज' कुपित हो रहा है, यहाँ पर लिङ्ग अर्थात् 'कोप' रूप चिक्त से 'मकरध्वज' शब्द को कामदेव के अर्थ में नियन्त्रित किया जाता है।

अन्य शब्द-सन्निधि द्वारा अर्थ नियमन

'देवस्य पुरारातेः'-'पुरारि देव का' यहाँ पर अनेकार्थक 'देव' शब्द को 'पुरारात' इस अन्य शब्द

की सन्निधि रहने से 'शम्भु' (त्रिपुर के शत्रु) अर्थ में नियन्त्रित किया जाता है। यह नियन्त्रण सन्निधि के कारण हुआ है। देव के शम्भु, शरीर, नगर आदि है।

सामर्थ्य द्वारा एक अर्थ में नियंत्रण

'मधुना मत्तः कोकिलः'- कोकिल मधु से मत्त हो रही है। यहाँ पर कोकिल को उन्मत्त करने का सामर्थ्य केवल वसन्त में होने से 'मधु' शब्द को वसन्त के अर्थ में नियन्त्रित किया जाता है। 'मधु' शब्द के दैत्य विशेष, वसन्त, मद्य आदि कई अर्थ हैं।

औचित्य द्वारा अर्थ नियंत्रित करना

'पातु वो दयिता मुखम्' – यहाँ पर अनेकार्थक 'मुख' शब्द को 'औचित्य' के कारण आनुकूल्य (सामुख्य) अर्थ में नियन्त्रित किया जाता है। यह नियन्त्रण औचित्य के कारण हुआ है।

देश द्वारा अर्थनियमन

'चन्द्र' शब्द मेघ, सुवर्ण, कर्पूर, चन्द्रमा (शशि), जल आदि होते हैं परन्तु 'विभाति गगने चन्द्रः'- यहाँ पर गगन रूप देश में चन्द्र की ही प्रतीति होती है सुवर्ण आदि की नहीं। यह नियन्त्रण 'देश' के कारण हुआ है।

काल द्वारा अर्थनियमन

'चित्रभानु' के कई अर्थ हैं - यथा सूर्य, अग्नि आदि। 'चित्रभानुर्विभाति'- चित्रभानु चमक रहा है। यहाँ पर अनेकार्थक 'चित्रभानु' शब्द दिन में 'सूर्य' के अर्थ में और रात्रि में 'अग्नि' के अर्थ में नियन्त्रित किया जाता है। यह नियन्त्रण 'काल' के कारण हुआ है।

व्यक्ति (स्त्रीलिंग, पुल्लिंग, नपुंसक लिंग) द्वारा अर्थनियमन

'मित्रम्भाति'-मित्र सुशोभित होता है। यहाँ पर अनेकार्थक 'मित्र' शब्द नपुंसकलिंग में प्रयुक्त हुआ है, इसलिए उसका नियन्त्रण 'सुहृत्' अर्थ में हुआ है। किन्तु 'मित्रो भाति'- इस प्रकार जब 'मित्र' शब्द का पुँल्लिङ्ग में प्रयोग किया जाता है, तब उसका नियन्त्रण 'सूर्य' अर्थ में किया जाता है। यह नियन्त्रण 'व्यक्ति'-लिङ्ग के कारण हुआ है।

स्वर द्वारा अर्थ नियमन

चौदहवाँ कारण 'स्वर' कहा गया है। उसे उदात्त, अनुदात्त आदि स्वरभेद से वेद में ही अर्थ का नियामक माना गया है, काव्य में नहीं। स्वरभेद से अर्थभेद को स्पष्ट करते हुए महाभाष्यकार कहते हैं-

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात् ॥

यहाँ पर 'इन्द्रशत्रुः' पद से सम्बन्धित घटना का संकेत जो किया गया है, उसका उल्लेख तैत्तिरीयसंहिता के द्वितीय कांड के पञ्चम प्रपाठक में इस प्रकार दिया गया है-

त्वष्टा का पुत्र विश्वरूप असुरों का भांजा भी था और देवताओं का पुरोहित भी था। अतः प्रत्यक्ष रूप से देवताओं का कार्य करता था किन्तु परोक्ष रूप से असुरों का भी कार्य करता रहता था। यह जानकर इन्द्र को बड़ा क्रोध हुआ और उसने वज्र से उसका सिर काट दिया। उसके मारे जाने पर त्वष्टा ने इन्द्र को मारने वाले दूसरे पुत्र को उत्पन्न करने की इच्छा से एक यज्ञ आरम्भ किया। उस यज्ञ में उसने 'इन्द्रशत्रुर्वरधस्व' आदि मन्त्र का 'ऊह' करके पाठ किया। उसका अभिप्राय यह था कि 'इन्द्र को मारने वाले पुत्र की वृद्धि हो'। यहाँ पर 'शत्रु' शब्द 'शातयिता मारनेवाले के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'इन्द्रशत्रु' पद में दो प्रकार के समास हो सकते हैं। एक 'इन्द्रस्य शत्रुः शातयिता' अर्थात् इन्द्र को मारने वाला- इस अर्थ में षष्ठीतत्पुरुष समास हो सकता है। और दूसरा 'इन्द्रः शत्रु शातयिता यस्य सः' अर्थात् इन्द्र जिसको मारने वाला है-इस विग्रह में बहुव्रीहि समास हो सकता है। इन दोनों समासों से शब्द का अर्थ बिलकुल उलटा हो जाता है। षष्ठीतत्पुरुष समास करने पर इन्द्र को मारने वाले पुत्र की वृद्धि हो यह अर्थ होता है और बहुव्रीहि समास में इन्द्र जिसको मारे अर्थात् जिसकी मृत्यु इन्द्र के हाथ से हो उस पुत्र की उत्पत्ति हो-यह अर्थ होता है। इन दो समासों में से 'षष्ठीतत्पुरुष' समासवाला अर्थ यजमान को अभीष्ट था। उस 'षष्ठीतत्पुरुष' समास में 'अन्तोदात्त स्वर का प्रयोग होना चाहिए था, मन्त्र पढ़ते समय उसने 'इन्द्रशत्रु' शब्द को 'आद्युदात्त' स्वर से उच्चारण किया। यह 'आद्युदात्त' स्वर बहुव्रीहि समास में होता है। इस स्वर के करण अर्थ ही उलटा हो गया। इस प्रकार 'अन्तोदात्त' और 'आद्युदात्त' स्वर के भेद से अनेकार्थक 'इन्द्रशत्रु' शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थों में नियन्त्रण वेद में ही हुआ है।

ii) लक्षणामूला व्यञ्जना

लक्षणामूला व्यञ्जना को स्पष्ट करते हुए साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ कहते हैं कि लक्षणा जिसके लिए की जाती है वह प्रयोजन जिस वृत्ति से प्रतीत होता है उसे लक्षणामूला व्यञ्जना कहते हैं-

लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम् ।

²²¢ Ðý² ø¼ ¼ä „ ¢ S³ ¢ ¼ T Ý¢ Hÿ¢ø¼Ý¢ ¢ JÙ[१]

'गंगायां घोषः' इत्यादि स्थल में जलमय आदि अर्थ को बोधन कर अभिधा के निवृत्त हो जाने पर और तट आदि अर्थ का बोधन कर लक्षणा के निवृत्त होने पर जिस वृत्ति से शीतलत्व और पावनत्व आदि के आधिक्य का बोध होता है, उसे लक्षणामूला व्यञ्जना कहते हैं।

वस्तुतः जिस प्रयोजन की प्रतीति कराने के लिए लाक्षणिक शब्द का आश्रय लिया जाता है, केवल शब्दों से गम्य उस फल (ज्ञान) के विषय में व्यञ्जना से अतिरिक्त और कोई व्यापार नहीं होता है।

काव्यप्रकाश में शाब्दी व्यञ्जना के निरूपण के क्रम में बताया गया है कि शाब्दी व्यञ्जना में शब्द

मुख्य रूप से व्यञ्जक होता है और अर्थ उसका सहकारी होता है। आचार्य मम्मट के अनुसार व्यञ्जनाव्यापार से युक्त शब्द को व्यञ्जक शब्द कहते हैं क्योंकि वह शब्द दूसरे अर्थ के योग से उस प्रकार का व्यञ्जक होता है। इसीलिए काव्य में शब्द का सहकारी होने से अर्थ भी व्यञ्जक होता है-"तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः। तद्युक्तो व्यञ्जनयुक्त :"।; "ज..यत् सोऽर्थान्तरयुक् तथा। अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितयामतः"।[५२]

ख) आर्थी व्यञ्जना

जहाँ शब्द व्यङ्ग्य अर्थ की सिद्धि के निमित्त परिवर्तनसहत्व स्वीकार कर ले, वहाँ आर्थी व्यञ्जना की स्थिति होती है। व्यञ्जक शब्द में पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग से व्यङ्ग्यार्थ पर आर्थी व्यञ्जना में आघात् नहीं पड़ता। आचार्य मम्मट आर्थी व्यञ्जना को परिभाषित करते हुए कहते हैं-

वक्तृ बोधव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः ॥
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम् ।
योऽर्थस्यान्यर्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्ति रेव सा ॥[५३]

अर्थात् वक्ता, बोद्धा (बोधव्य), काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल, 'चेष्टा' आदि के वैशिष्ट्य से प्रतिभावान् सहृदयों को अन्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला जो अर्थ का व्यापार है, वह आर्थी व्यञ्जना कहलाता है। इस वक्तृ बोद्धव्यादि विशेषताओं के कारण प्रतिभावान् सहृदयों को एक विशेष अर्थ की प्रतीति होती है। यह अर्थविशेष ही सहृदयों के हृदय को स्पर्श करता हुआ काव्यसौन्दर्य को तरंगायित करता है। ध्वनिवादी आचार्य इसे प्रतीयमान अर्थ कहते हैं। इस प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति करने वाला व्यापार आर्थी व्यञ्जना कहलाता है।

वक्ता के भेद से अर्थ में भेद हो जाता है। श्रोता कौन है, किससे बात कही जा रही है, तदनुसार अर्थभेद हो जाता है। वाक्य में प्रयोग से शब्द का अर्थ भी भिन्न हो जाता है। क्या कहा जा रहा है, वक्ता का क्या अभिप्रेत है, तदनुसार अर्थभेद हो जाता है। अन्य व्यक्ति की उपस्थिति से भी अर्थभेद हो जाता है। प्रकरण या प्रसंग से अर्थभेद हो जाता है। देश और काल के अनुसार शब्द के अर्थ में भेद होता है। काकु का अर्थ है वक्रोक्ति या ध्वनिभेद। काकु से अर्थ में अन्तर हो जाता है। संकेत या आंगिक अभिनय से अभिप्राय व्यक्त किया जाता है।[५४]

आर्थी व्यञ्जना के निरूपण के क्रम में यह बताया गया है कि आर्थी व्यञ्जना में आर्थी व्यञ्जना में अर्थ मुख्य रूप से व्यञ्जक होता है और शब्द उसका सहकारी होता है-

शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त् यर्थान्तरं यतः ।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ॥[५५]

अर्थात् शब्द प्रमाण से गम्य होने वाला 'अर्थ' ही अर्थान्तर को अभिव्यक्त करता है। इसीलिए अर्थ के व्यञ्जकत्व में शब्द भी सहकारी होता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि शाब्दी व्यञ्जना में शब्द की व्यञ्जकता अर्थ की अपेक्षा करती है और आर्थी व्यञ्जना में अर्थ की व्यञ्जकता शब्द की अपेक्षा करती है। अर्थात् शब्द की व्यञ्जकता में अर्थ का सहकारी होना और अर्थ की व्यञ्जकता में शब्द का सकहारी होना व्यञ्जना का मौलिक सिद्धान्त है। ध्वनिवादी आचार्यों ने इसी सिद्धान्त को स्वीकार किया है तथा इसी सिद्धारन्त की परिपुष्टि की है। पण्डितराज जगन्नाथ का मत है कि ध्वनि चाहे शब्दमूलक हो या अर्थमूलक, किन्तु बिना शब्द और अर्थ के अनुसन्धान से ध्वनि के स्वरूप को नहीं पहचाना जा सकता है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि काव्यत्व की प्रतिष्ठा शब्द और अर्थ के समवेत रूप में ही निहित है। यदि शब्द सहृदय पाठक की श्रुति को अनुरञ्जित करता है, तो अर्थ उसके हृदय को रसाह्लाद से चमत्कृत करता है। अर्थाभाव में शब्द उच्चकोटि के आनन्द का अनुभव नहीं करा सकता है। दोनों के मञ्जुल सहयोग से ही काव्य का उन्मेष होता है। वेदादि शास्त्रों में वाणी का जो गुणगान किया गया है, वह उसकी सार्थकता के कारण। वस्तुतः निरर्थक शब्द, शब्द कहलाने के अधिकारी नहीं हैं। जहाँ शब्द होगा, वहाँ अर्थ होगा ही। यदि ऐसा नहीं होता तो काव्य व्यापार क्या लोकव्यवहार भी सर्वथा कुण्ठित रह जाता। इस प्रकार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है। इसमें किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती।

टिप्पणियाँ

१. शतपथब्राह्मण-२/१/१/१०
२. ऐतरेय ब्राह्मण-२/३/७
३. बृहदारण्यकोपनिषद्-२/४/११
४. कुमारसम्भव-१/२८
५. काव्यादर्श-१/३
६. तत्रैव-१/४
७. मैत्रायणी उपनिषद्-६/२२
८. नीतिशतकम्-१९
९. वाक्यपदीय-१/१२३
१०. तत्रैव-१/१२४
११. तत्रैव-१/१२५
१२. तत्रैव-१/१
१३. तत्रैव -१/१०८
१४. तत्रैव -२/३२८

१५. अष्टाध्यायी-१/२/४५
१६. निरुक्त (प्रथम भाग)-पृ०९९
१७. तत्रैव-पृ०८७
१८. महाभाष्य-१
१९. ऋग्वेद-१०/७१/५
२०. भाषा विज्ञान एवं भाषा शास्त्र, पृ० ३५२
२१. ऋग्वेद-१०/७१/४
२२. तत्रैव-१०/७१/५
२३. ध्वन्यालोक-१/४
२४. वाक्यपदीय-१/५३
२५. तत्रैव-१/२३
२६. तत्रैव -२/३१
२७. रघुवंश-१/१
२८. रामचरितमानस-प्रथम सोपान, दोहा संख्या-१८
२९. रघुवंश-१/१ पर मल्लिनाथ द्वारा उधृत
३०. नाट्यशास्त्र-१७/१२३
३१. भामहकृत काव्यालंकार-१/१६
३२. काव्यादर्श-१/१०
३३. काव्यप्रकाश-१/४
३४. काव्यमीमांसा- पृ० ११
३५. वक्रोक्ति जीवित-१/७
३६. वक्रोक्ति जीवित- १/१७
३७. तत्रैव- १/९
३८. किरातार्जुनीय-२/२७
३९. तत्रैव -१/३
४०. तत्रैव -१७/६
४१. तत्रैव -१४/५
४२. शिशुपालवध-२/८६
४३. उत्तररामचिरत-१/१०
४४. ऋग्वेद-८/१००/११

४५. काव्यप्रकाश-२/९

४६. तत्रैव-२/११

४७. तत्रैव-२/१२

४८. साहित्यदर्पण-२/१२-१३ (क)

४९. तत्रैव-२/१३ (ख)

५०. काव्यप्रकाश-२/३२

५१. साहित्यदर्पण-२/१५

५२. काव्यप्रकाश-२/३३, ३४

५३. तत्रैव-३/३७

५४. भाषाविज्ञान एवं भाषाशास्त्र, पृ० ३५७-३५८

५५. काव्यप्रकाश-३/३८

सन्दर्भ-सूची

आचार्य श्री वामदेव (व्याख्याकार), श्रीभर्तृहरिकृत वाक्यपदीयम् (ब्रह्मकाण्डम्), चौखम्बा कृष्णदास अकादमी,वाराणसी, २००७

गोपीनाथ पी, भर्तृहरिः शतकत्रयम्, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, २०१०

चतुर्वेदी आचार्य पं० सीताराम, कालिदास-ग्रन्थावली, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, २००६

जिज्ञासु श्री पं० ब्रह्मदत्त, अष्टाध्यायी-भाष्य-प्रथमावृत्ति, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, २०१०

त्रिपाठी डा० श्रीकृष्णमणि (व्याख्याकार), श्रीकान्तिचन्द्रभट्टाचार्यसंकलित काव्यदीपिका, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, २००९

त्रिपाठी प्रो० जयशंकरलाल (व्याख्याकार एवं सम्पादक), व्याकरणमहाभाष्यम् (दो भाग), चौखम्बा कृष्णदास अकादमी,वाराणसी, २००२

त्रिवेदी पं० राम गोविन्द (अनुवादक), ऋग्वेद-संहिता (सायणाचार्यकृत भाष्यसहित), चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, २०११

द्विवेदी डा० कपिलदेव द्विवेदी, भाषाविज्ञान एवं भाषाशास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, १९९४

द्विवेदी डा० पारसनाथ द्विवेदी (सम्पादक और व्याख्याकार), भरतमुनिप्रणीत नाट्यशास्त्रम् (चार भाग),सम्पूर्णा नन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी, १९९२

द्विवेदी आचार्य श्रीरहसविहारी (सम्पादक), साहित्यविमर्शः, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, २००२

बाली डा० तारकनाथ एवं डा० नगेन्द्र (सम्पादक), भारतीय काव्य सिद्धान्त, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, १९९०

मिश्र आचार्य रामचन्द्र (व्याख्याकार), हिन्दी काव्यादर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९५८

मिश्र भगवानदत्त (व्याख्याकार), माघप्रणीत शिशुपालवधम्, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९५५

मिश्र विद्यानिवास मिश्र (सम्पादक), भारतीय भाषाशास्त्रीय चिन्तन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९९४

मुसलगाँवकर डा० गजाननशास्त्री (व्याख्याकार), श्रीमम्मटाचार्यविरचित काव्यप्रकाश, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, १९९७

राय डा० गंगासागर राय (व्याख्याकार), श्रीराजशेखरविरचित काव्यमीमांसा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, २००७

रेग्मी आचार्य शेषराजशर्मा (व्याख्याकार), साहित्यदर्पणम्, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी,वाराणसी, २००७

विश्वेश्वर आचार्य (व्याख्याकार), हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, १९५५

शास्त्री पं० सीताराम (व्याख्याकार), यास्कमुनिप्रणीत निरुक्तम् (दो भाग), परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, २००५

शर्मा देवेन्द्रनाथ, भाषाविज्ञान की भूमिका, राधाकृष्णप्रकाशन,दिल्ली, २०००

शर्मा देवेन्द्रनाथ, भामहकृत काव्यालंकार, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्,पटना, १९८५

शुक्ल चन्द्रकान्त, 'संस्कृत वाङ्मय में शब्दार्थसौन्दर्य', शब्दार्थसौन्दर्यसहस्रचन्द्री में प्रकाशित, संस्कृत संगीत कला० प्रकाशन, दिल्ली, २००१

शुक्ल श्रीरामदेव, रुद्रटकृत काव्यालंकार, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९८९

सहाय डा० राजवंश, भारतीय आलोचना शास्त्र, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, २०१४

सिंह डा० योगेन्द्र प्रताप, भारतीय काव्यशास्त्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९९७

SAMBODHI

Indological Research Journal of L.D.I.I.

VOI. XLII 2019

EDITOR

JITENDRA B. SHAH

L. D. INSTITUTE OF INDOLOGY
AHMEDABAD

SAMBODHI
VOI. XLII, 2019

ISSN 2249-6661

Editor
Jitendra B. Shah

Published by
L. D. Institute of Indology
Ahmedabad 380 009 (India)
Phone : 26302463 Fax : 26307326
l.dindologyorg@gmail.com

Price : Rs. 300/-

Printed by
Navprabhat Printing Press
Ahmedabad
M:9825598855

CONTENTS

English Section

1. The Complexity of Indian Writing : A Brief Note	Ratna Basu	1
2. Shri Madhusudan Dhaky- The outstanding Architectural Historian	Ratan Parimoo	15
3. Nayacandra Sūri : A Literary Prodigy	Satyavrat Varma	28
4. Gandhi on Jain Practices	Prem Anand Mishra	34

हिन्दी विभाग

1. चीन में जैन धर्म	लता बोथरा	41
2. जैन दर्शन में सर्वज्ञ एवं सर्वज्ञता का स्वरूप	साध्वी सिद्धायिका	46
3. रामायण का सत्य और महाभारत का धर्म	अम्बिकादत्त शर्मा	51
4. वाल्मीकि-रामायण में प्रयुक्त कुछ पर्यायवाची शब्द	सत्यव्रत वर्मा	73
5. शब्द और अर्थ तथा उनका सम्बन्ध	धनञ्जय वासुदेव द्विवेदी	81
6. प्राकृत ग्रन्थों में प्रयुक्त जीवन मूल्य	भागचन्द्र जैन	103
7. सुसढकहा में प्रतिपादित साहित्यिक विवेचन	हेमवती नन्दन शर्मा	121

ગુજરાતી વિભાગ

1. હસ્તપ્રતોના વિનાશના કારણો-૧	વૈરાગ્યરતિવિજય	129
2. જૈન તીર્થની વિશેષતાઓ	અભય દોશી	136
3. ગાંધીજી ઉપર જૈનદર્શનનો પ્રભાવ	શોભના આર. શાહ	142
4. શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર અને ગાંધીજી : જૈનધર્મ સંદર્ભે - પ્રભાવ અને અસર	સેજલ શાહ	157
5. ભગવાન મહાવીરનું મૂળભૂત ચિંતન	જિતેન્દ્ર બી. શાહ	166
6. પંચનિર્ગ્રંથી પ્રકરણ સહ બાલાવબોધ	હિરેન દોશી	188